बंगाल विभाजन की पृष्ठभूमि में शरणार्थी की स्थिति :- एक अध्ययन

Tantan Kumar Thakur [1]*, Dr. Arvind Kumar Verma [2]**
1. Research Scholar,
2. Professor and Head
* Faculty of Social Science (Department of History), Purnea University, Purnia, Bihar, India
** Faculty of Social Science (Department of History), Purnea University, Purnia, Bihar, India
Corresponding Author: Tantan Kumar Thakur
Email address:- tantanjan1993@gmail.Com

सार: इस पत्र का उद्देश्य 1947 के भारत विभाजन के बाद पूर्वी पाकिस्तान (वर्तमान बांग्लादेश) से पश्चिम बंगाल में आए शरणार्थियों की मौखिक गाथाओं का आलोचनात्मक विश्लेषण करना है। यह अध्ययन इस बात को रेखांकित करता है कि किस प्रकार मौखिक इतिहास, जो शरणार्थियों के व्यक्तिगत अनुभवों और स्मृतियों पर आधारित होता है , पारंपरिक तथ्यात्मक इतिहास के समानांतर एक महत्वपूर्ण वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। शरणार्थियों द्वारा सुनाई गई कहानियाँ इतिहास को केवल घटनाओं की श्रृंखला नहीं , बल्कि एक व्यक्तिपरक और व्याख्यात्मक अनुभव के रूप में प्रस्तुत करती हैं। इन कथाओं में शरणार्थियों के सामाजिक और भौतिक बदलावों की झलक मिलती है , जिन्हें "आलंकारिक रूपांतरण" कहा जा सकता है —ऐसे रूपांतरण जो राष्ट्र-राज्य द्वारा अपनाए गए समरूपता के राष्ट्रवादी अभ्यासों को चुनौती देते हैं। यह पत्र अरजुन अप्पादुराई (2006) के "अपूर्णता" (incompleteness) के विचार को आधार बनाकर यह तर्क प्रस्तुत करता है कि शरणार्थियों की उपस्थिति राष्ट्र-राज्य की पूर्णता की कल्पना को बाधित करती है। भले ही राष्ट्र-राज्य एकरूप और संगठित पहचान गढ़ने का प्रयास करें, लेकिन शरणार्थियों की बहुलतावादी और जातीय-सांस्कृतिक पहचानें राष्ट्रवाद के विविध रूपों को सामने लाती हैं। शरणार्थियों की सामाजिक स्मृति में संचित आत्मकथाएं ऐसे वैकल्पिक राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति हैं, जो न केवल मुख्यधारा इतिहास की सीमाओं को उजागर करती हैं, बल्कि राष्ट्र की परिकल्पना को भी चुनौती देती हैं।

[Thakur, T.K. and Verma, A.K. **बंगाल विभाजन की पृष्ठभूमि में शरणार्थी की स्थिति :- एक अध्ययन**. *The International Journal of Interpretation, Observation and Analysis*, 2025; Volume 2, Issue 1:52-57 (April-June). ISSN 2349-0713, Peer-reviewed (online/offline), Refereed, Indexed and International Journal (Since 2013), Global Impact Factor: 5.776

मुख्य शब्द: विभाजन, बंगाल, शरणार्थी, प्रवास, कथाएँ, जातीय-सांस्कृतिक

परिचयः औपनिवेशिक अधीनता के बंधन से मुक्ति के प्रयास में, राजनीतिक विचारधारा के प्रत्येक वर्ग के राष्ट्रवादियों ने 1947 की विभाजन योजना को स्वीकार कर लिया, जो दक्षिण एशिया की स्वतंत्रता से जुड़ी हुई थी (घोषाल, 2021: पृष्ठ 22-24)। यह स्पष्ट है कि "राज से मुक्ति" , जैसा कि नंदी कहते हैं , '1947 में कोई एकल , पहचान योग्य घटना नहीं थी '; बल्कि यह एक ऐतिहासिक प्रक्रिया थी जिसकी शुरुआत 1946 के महान कलकत्ता दंगों से हुई थी और जिसकी चरम परिणति पंजाब में हुए नरसंहार में हुई (नंदी , 2002: पृष्ठ 5)। इस विभाजन के साथ आए भौगोलिक पुनर्गठन ने अकथनीय चिंता, अव्यवस्था और मानसिक तनाव को जन्म दिया। उन लोगों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा , जो अचानक खुद को रेडक्लिफ रेखा के 'गलत' ओर पाए (जैन और सरीन , 2018: पृष्ठ 6)। उन्हें अपनी जन्मभूमि, अपने पूर्वजों के चूल्हे-चौके को छोड़कर एक सुरक्षित स्थान की तलाश में प्रवास करने पर मजबूर होना पड़ा।

यह शोधपत्र 1947 और 1970 के बीच पूर्वी पाकिस्तान से पश्चिम बंगाल आए शरणार्थियों की स्थिति की पड़ताल करता है। शोधपत्र का पहला भाग 1947 के विभाजन और उससे उपजे शरणार्थी संकट पर केंद्रित है। इसमें तर्क दिया गया है कि विभाजन के पश्चात लगभग दो दशकों तक लगातार हुए प्रवास ने 'शरणार्थी' को पश्चिम बंगाल में एक विशिष्ट सामाजिक श्रेणी के रूप में स्थापित कर दिया। दूसरे खंड में , शरणार्थियों के मौखिक इतिहास के माध्यम से उनके अनुभवों को आलंकारिक और सामाजिक-भौतिक विषयों के रूप में वर्गीकृत किया गया है , जहाँ वे प्रतिनिधि , इच्छुक और उद्यमशील व्यक्तियों के रूप में उभरते हैं। अंतिम खंड में शरणार्थियों की जातीय-सांस्कृतिक विशिष्टता को रेखांकित किया गया है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि यद्यपि राष्ट्र-

राज्य एक विशेष प्रकार के राष्ट्रवाद को स्थापित करने की आकांक्षा करता है, फिर भी जातीय और सांस्कृतिक पहचान की ऐसी परतें मौजूद हैं जो केवल सीमाओं पर आधारित नहीं होतीं। इन पहचानों को शरणार्थियों की सामाजिक स्मृति में निहित आत्मकथाओं के वैकल्पिक रूपों के रूप में समझा जा सकता है।

विभाजन और विस्थापन का क्षण

अगस्त 1947 में विभाजन का क्षण अत्यंत आकस्मिक और अराजक था। इससे पहले कि लोग स्थिति को समझ पाते, उन्हें अपने घर-बार छोड़कर पलायन करना पड़ा। कलकत्ता दंगों का पहला केंद्र अवश्य था, किंतु शीघ्र ही हिंसा बिहार, संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश), बॉम्बे, दिल्ली और पंजाब तक फैल गई। यास्मीन खान के अनुसार, एक भय का जाल फैल गया था, जिसमें हिंदू और मुसलमान एक-दूसरे की निर्ममता से हत्या कर रहे थे। वह मानती हैं कि इन दंगों को राजनीतिक रूप से उकसाया गया था और अफवाहों के माध्यम से हिंसा की खबरें फैलाई गई थीं। पंजाब में हुई पारस्परिक हिंसा की सबसे भयावह छवि शरणार्थियों से भरी ट्रेनों पर हुए हमलों के रूप में सामने आई।

यद्यपि पश्चिम बंगाल की स्थिति पंजाब जितनी गंभीर नहीं थी, लेकिन असुरक्षा की भावना ने वहाँ के लोगों को भी पलायन के लिए विवश कर दिया (चटर्जी, 2019: पृष्ठ 97-99)। जिनका घर रेडक्लिफ रेखा के 'गलत' ओर पड़ गया, उनके लिए यह सीमा पार करने का पर्याप्त कारण बन गया, अन्यथा उन्हें उत्पीड़न, धर्मांतरण या मृत्यु का सामना करना पड़ता। जोया चटर्जी (2007: पृष्ठ 112-113) के अनुसार, जिनके पास पूर्वी बंगाल में संपत्ति थी, वे सबसे पहले पलायन करने वालों में थे। यह प्रवास केवल विभाजन के तत्काल बाद तक सीमित नहीं था; भारत-पाकिस्तान के बीच राजनयिक संबंधों में उतार-चढ़ाव, पासपोर्ट व्यवस्था की शुरुआत, पूर्ण युद्धों और सांप्रदायिक दंगों के चलते यह प्रक्रिया लगातार चलती रही (मुखोपाध्याय, 2021: पृष्ठ 136)।

शरणार्थी और उनकी पहचान की जटिलता

शरणार्थी की पहचान हमेशा प्रवासी या विस्थापित के समान नहीं होती थी। सरकार द्वारा इन शब्दों का प्रयोग अक्सर बिना अंतर किए किया जाता रहा (दास, 2003: पृष्ठ 107)। 'विस्थापित व्यक्ति' शब्द कुछ नौकरशाही दस्तावेजों में प्रयुक्त हुआ, जबकि पूर्वी पाकिस्तान से आए लोगों को 'निकासी' या 'प्रवासी' भी कहा गया। उदाहरणस्वरूप, 1951 के सूखे के बाद खुलना से आए किसानों को 'प्रवासी' कहा गया (बंद्योपाध्याय, 1960: पृष्ठ 168)। चूंकि विभाजन धार्मिक आधार पर हुआ था, इसलिए यह माना गया कि शरणार्थी आसानी से मेज़बान समाज में आत्मसात हो जाएंगे। किंतु, विडंबना यह रही कि पुनर्वास के अधिकार हेतु उन्हें 'शरणार्थी' कहलाना पड़ा (सेन, 2018: पृष्ठ 3)।

फेरिस और किरिशी (2016) तथा क्राउस और श्मिट (2020) यह तर्क देते हैं कि जब लोग किसी स्थान से दूसरे स्थान की ओर जाते हैं, तो वे अपनी संस्कृति, सामाजिक संबंध और भाषा भी साथ लाते हैं। इसलिए, केवल धर्म के आधार पर उनके एकीकरण को परिभाषित नहीं किया जा सकता।

शरणार्थी: प्रतीकात्मक और भौतिक विषय

अधिकांश आधिकारिक अभिलेखों में शरणार्थियों को केवल संख्याओं और आंकड़ों के रूप में दर्ज किया गया। ये आंकड़े राष्ट्र-राज्य की विफलता का प्रमाण थे। केंद्रीय पुनर्वास मंत्री मोहनलाल सक्सेना ने 1949 में प्रस्ताव दिया कि पश्चिम बंगाल में शरणार्थियों को अस्थायी आश्रय दिया जाएगा, उन्हें पुनर्वास नहीं मिलेगा और उन्हें पूर्वी पाकिस्तान लौटने के लिए प्रेरित किया जाएगा। फरवरी 1950 के बाद शरणार्थियों को शिविरों में रहना हतोत्साहित किया गया।

मनोरंजन ब्यापारी ने अपनी आत्मकथा (2018: पृष्ठ 17) में लिखा है कि कैसे सियालदह स्टेशन के प्लेटफॉर्म पर दिन गुजारने के बाद उन्हें शिरोमणिपुर शिविर ले जाया गया। वहां की दयनीय स्थिति, खराब चावल और शौचालय की अनुपस्थिति को उन्होंने स्पष्ट रूप से वर्णित किया है।

स्थानांतरण और अदृश्यता की रणनीति

सरकार ने शरणार्थियों को अदृश्य बनाने हेतु उन्हें शिविरों से हटाकर मध्य भारत, अंडमान द्वीप और अन्य क्षेत्रों में भेजना शुरू किया। 1955 में, भद्रो बिस्वास को हसनाबाद शिविर से छत्तीसगढ़ के माना शिविर भेजा गया।

सरकार द्वारा बार-बार नोटिस देने के बावजूद शरणार्थी शिविरों से बाहर जाने को तैयार नहीं थे। यह उनके धैर्य और जिजीविषा का प्रतीक था, जो राष्ट्र-राज्य की असंवेदनशील नीतियों के विपरीत था। मौखिक इतिहास की पद्धति, जिसमें व्यक्ति अपने अनुभव साझा करता है, शरणार्थियों को अपनी दृष्टि से इतिहास को परिभाषित करने का अवसर देती है।

एडम विसनर का विचार

एडम विसनर का मानना है कि मौखिक इतिहास साक्षात्कारकर्ताओं को स्मृतियों को पुनः जीवंत करने के लिए प्रेरित करता है , और उसका "प्राथमिक उद्देश्य उन लोगों के दृष्टिकोण से ज्ञान का निर्माण करना है" जिन्हें पारंपरिक इतिहासलेखन ने उपेक्षित किया है (विसनर , 2021: पृष्ठ 101)। अतीत की घटनाओं का पुनर्निर्माण , इतिहास की उन धारणाओं को चुनौती देता है जो राज्य-प्रमाणित और आधिकारिक होती हैं (ना ली , 2020: पृष्ठ 26)। जैसे-जैसे मौखिक कथाएं तथ्यात्मक प्रस्तुति से हटकर व्यक्ति-केंद्रित अनुभव की ओर बढ़ती हैं , वे एक "कथात्मक स्थान" का निर्माण करती हैं , जिससे शरणार्थियों को अपने स्वयं के इतिहास को प्रस्तुत करने का अवसर मिलता है (पोर्टेली , 2018: पृष्ठ 243)।

हेडन व्हाइट , 'द क्वेश्चन ऑफ नैरेटिव इन कंटेम्परारी हिस्टोरिकल थ्योरी ' में तर्क देते हैं कि इतिहास की कुछ प्रवृत्तियाँ एक कहानी को स्वयं को प्रकट करने देती हैं , और यह प्रक्रिया इतिहास को केवल तथ्यों के संकलन से अलग करती है (व्हाइट , 1984: पृष्ठ 2)। कहानी और इतिहास के बीच यह अस्थिरता , मौखिक इतिहास को एक वैकल्पिक ऐतिहासिक प्रतिनिधित्व का रूप प्रदान करती है —जहाँ पर कथा, तथ्य से अधिक मानव अनुभव की बारीकियों को दर्शाती है (कबीर, 2013: पृष्ठ 11; गेरा रॉय, 2020: पृष्ठ 67)। इस संदर्भ में , मौखिक कथाएं शरणार्थियों को "आलंकारिक" विषय से एक "सामाजिक-भौतिक" विषय में रूपांतरित करती हैं। वह शरणार्थी जो कभी केवल सरकारी रिकॉर्ड में एक गुमनाम संख्या था, वह अब एक ऐसे व्यक्ति के रूप में उभरता है जो अपने अनुभवों के माध्यम से एजेंसी और आत्म-निर्धारण की मांग करता है।

पश्चिम बंगाल में विभाजन से जुड़ी लोक-स्मृति में शरणार्थियों की छवि दो विरोधाभासी धारणाओं में बाँधी जाती है —एक पीड़ित और दूसरी शक्तिहीन विजेता के रूप में। लेकिन यह अध्ययन तर्क देता है कि शरणार्थी केवल इन दो रूपों तक सीमित नहीं हैं। उनके जीवन की कहानियाँ उस जटिल सामाजिक-भौतिक वास्तविकता को दर्शाती हैं , जहाँ वे न केवल पीड़ित होते हैं , बल्कि साहसी , नवाचारशील और संघर्षशील नागरिक भी होते हैं।

व्यक्तिगत कथाएँ और शरणार्थियों की जीविका के प्रयास

मनोरंजन मंडल, जिन्हें 1970 में अपने गाँव पर पाकिस्तानी सेना के हमले के कारण घर छोड़ना पड़ा , पश्चिम बंगाल पहुंचे और रायपुर के कुरुद शिविर में भेजे गए। वह बताते हैं कि शिविर में मिली भूमि खेती योग्य नहीं थी , इसीलिए उन्होंने मिट्टी के तेल और वस्त्रों का व्यापार आरंभ किया। हालांकि शिविर प्रशासन ने उन्हें यह व्यापार बंद करने को कहा, लेकिन मंडल ने आत्मनिर्भरता का मार्ग चुना और अंततः दिल्ली जाकर व्यापार जारी रखने की अनुमति प्राप्त की (घोषाल , 2021: पृष्ठ 110)।

इसी प्रकार, सुखेन हौलादर ने 1950 में बर्दवान के काशीपुर शिविर में आकर एक दुकान शुरू की। उन्हें सरकारी सहायता में प्रति सदस्य केवल तीन रुपये मिले , जो पर्याप्त नहीं थे। उन्होंने बर्दवान शहर से आवश्यक वस्तुएँ लाकर शिविर में बिक्री आरंभ की। जब उनका परिवार दो साल बाद धुबुलिया शिविर भेजा गया , तो उन्होंने वहां जाकर पुनः दुकान आरंभ की। उन्होंने बताया कि चूंकि उन्होंने दुकान में अधिक पूंजी निवेश नहीं किया था , इसलिए स्थानांतरण से उन्हें अधिक हानि नहीं हुई।

सामुदायिक संगठन और सामाजिक पहचान

शांति रंजन बनर्जी ने विभाजन से पहले अपने भाई-बहनों के साथ कोलकाता के बालीगंज सर्कुलर रोड स्थित एक शिविर में शरण ली। उन्होंने बताया कि बाड़ से घिरे शिविर क्षेत्र ने सामाजिक अलगाव की भावना को जन्म दिया। इसे समाप्त करने के लिए उन्होंने 'संघ श्री क्लब ' की स्थापना 1949 में की, जो न केवल सामुदायिक मिलन स्थल था , बल्कि एक प्राथमिक विद्यालय के रूप में भी कार्य करता था।

शिविर के निवासी कोलकाता में रोजगार के लिए संघर्ष कर रहे थे और क्लब में प्रतिदिन शाम को एकत्र होकर एक-दूसरे को प्रेरित करते थे। जब सरकार ने बालीगंज का शिविर खाली करने का आदेश दिया, तो निवासियों ने बांसद्रोणी के पास एक खाली भूमि पर कब्जा कर लिया और वहीं बस गए। क्लब को भी उस नए स्थान पर स्थानांतरित कर दिया गया।

जबरन कब्जे की कॉलोनियाँ और सामाजिक उत्तरदायित्व

देबब्रत दत्ता याद करते हैं कि कैसे उनके पिता संतोष कुमार दत्ता ने जादवपुर के पास बिजॉयगढ़ कॉलोनी की स्थापना की थी। यह एक 'जबरदकल' (जबरन कब्जा) कॉलोनी थी , जहाँ पर उन्होंने और उनके साथियों ने वीरान सेना की बैरकों पर

कब्जा कर शरणार्थी परिवारों में भूमि का वितरण किया। विभाजन के बाद लगभग एक दशक तक वे लगातार शरणार्थियों को आवास देते रहे। उन्होंने 1958 में प्राप्त एक पत्र का उल्लेख किया, जिसमें उनके पिता से एक परित्यक्त महिला को कॉलोनी में आश्रय देने का अनुरोध किया गया था।

भूषण भट्टाचार्य का विचार

भूषण भट्टाचार्य, जो 1948 में पश्चिम बंगाल आए और वर्तमान बिधान पल्ली (कोलकाता) में बसे, उन्होंने कहा, "हमने जबरन एक खाली क्षेत्र पर कब्जा कर लिया।" लंबे समय तक उनका परिवार एक अस्थायी झोपड़ी में रहा। वह स्थान एक संपन्न जमींदार का था, जिसके भाड़े के गुंडे समय-समय पर आकर बस्ती को तोड़ देते थे। लेकिन हर रात शरणार्थी फिर से अपनी झोपड़ियाँ बनाते। **पबित्र भूषण भट्टाचार्य** को याद है कि अंततः जमींदार को यह समझ में आ गया कि शरणार्थी यह स्थान छोड़ने वाले नहीं हैं। इसलिए उसने वहाँ आना बंद कर दिया।

भले ही उन्होंने अपने सिर पर छत बना ली थी, लेकिन भूखे पेट रहना अब भी आम था। भट्टाचार्य ने बताया, "हममें से अधिकांश रातों को खाली पेट सोते थे।"

मनोरंजन मंडल, **सुखेन हौलादर**, **शांति रंजन बनर्जी**, **देबब्रत दत्ता**, और **पबित्र भूषण भट्टाचार्य** जैसे शरणार्थियों के जीवनवृत्त इस बात की पुष्टि करते हैं कि शुरुआत में उन्हें केवल आंकड़ों और संख्याओं के रूप में देखा गया, लेकिन समय के साथ वे सामाजिक-भौतिक विषयों के रूप में उभरकर सामने आए, जिन्होंने सामान्य जीवन की झलक बनाने के लिए परिस्थितियों के अनुसार खुद को ढाल लिया।

शरणार्थियों ने अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए जिन तरीकों को अपनाया, उनमें से एक था अपनी **जातीय-सांस्कृतिक पहचान** को सुदृढ़ करना और उसे सार्वजनिक रूप से प्रस्तुत करना। यह पहचान न केवल उनकी सामूहिकता को दर्शाती है, बल्कि इसके माध्यम से वे राष्ट्र-राज्य से **सांस्कृतिक और राजनीतिक अधिकारों की मांग** करते हैं। शरणार्थी केवल पीड़ित या विजेता की स्थिर द्वैत पहचान में नहीं समाते। वे अपनी विशिष्ट पहचान के आधार पर देश में सदस्यता का दावा करते हैं। इस प्रक्रिया में उनकी पहचान का निर्माण, संवाद और कभी-कभी विरोध भी होता है।

धार्मिक अल्पसंख्यकों की रक्षा के नाम पर विभाजन को उचित ठहराया गया था। लेकिन विभाजन के बाद राष्ट्र की सीमाओं के भीतर जो **जातीय-सांस्कृतिक अस्मिताएँ** उभरीं, वे अक्सर राष्ट्र-राज्य की राष्ट्रीय एकता की परियोजना से मेल नहीं खातीं।

जैसे पाकिस्तान में भारत से गए मुसलमानों को **'मुहाजिर'** कहा गया, वैसे ही भारत में पूर्वी बंगाल से आए हिंदुओं को **'बांगाल'** कहा गया। 'बांगाल' शब्द, विशेषकर पश्चिम बंगाल के मूल निवासियों यानी **'घोटी'** समुदाय की नजर में, अपमानजनक बन गया था (ब्यापारी, 2018: पृष्ठ 41)।

घोटी समुदाय, शरणार्थी बांगालों को भाषाई, सांस्कृतिक और सामाजिक रूप से हीन समझता था (सरकार, 2010: पृष्ठ 158-159)। परंतु कुछ शरणार्थियों ने इस पहचान को गर्व के रूप में अपनाया। **प्रशांत कुमार चटर्जी** ने कहा, "शरणार्थी होना मेरी बंगाली पहचान से जुड़ा है। मुझे उस पर गर्व है।" **महेश दास** ने भी 'शरणार्थी' और 'बांगाल' की पहचान को आपस में जोड़ा। उन्होंने बनगांव के पास एक बस्ती बनाई जिसका नाम उन्होंने और अन्य निवासियों ने **सीतानाथपुर** रखा। उन्होंने कहा, "हम सभी यहाँ के बांगाली हैं। हम इसे 'बंगाली मोहल्ला' कहते हैं, क्योंकि हम सभी शरणार्थी और बंगाली हैं।"

अर्नेस्ट गेलनर का विचार है कि एक केंद्रीकृत और सुव्यवस्थित **शिक्षा प्रणाली** राष्ट्र-राज्य के लिए अपनी राष्ट्रीय पहचान को बढ़ावा देने का एक महत्वपूर्ण उपकरण होती है (गेलनर, 1983: पृष्ठ 65)। पश्चिम बंगाल में शरणार्थियों ने भी शिक्षा को सामाजिक गतिशीलता और आत्मनिर्भरता के साधन के रूप में अपनाया।

मानस रे कहते हैं, "शिक्षा हमें कोलकाता में मान्यता प्राप्त करने में मदद करेगी... कुछ ऐसा जो हमने सोचा कि हम उसके हकदार थे, पर वंचित कर दिए गए थे" (रे, 2001: पृष्ठ 134)। **नीलिमा कुंडू** ने कहा कि उन्होंने शिक्षा को इसलिए गंभीरता से लिया ताकि उन्हें किसी पर निर्भर न रहना पड़े। उन्होंने पढ़ाई पूरी की और एक प्राथमिक विद्यालय की प्रधानाचार्या बन गईं। जब भी किसी देश में शरणार्थियों का प्रवाह होता है, तो मेज़बान राष्ट्र के भीतर **एक अनिश्चितता की भावना** उत्पन्न होती है (अप्पादुराई, 2006: पृष्ठ 5)। वह न तो पूरी तरह उन्हें स्वीकार कर पाता है और न ही उनसे दूरी बना पाता है। शरणार्थियों की पहचान का सबसे ठोस पक्ष बनता है — **दस्तावेज़ीकरण**। **संतोष कुमार विश्वास** ने बताया कि उन्हें शरणार्थी वजीफा मिलता था क्योंकि उनके पास पंजीकरण

प्रमाणपत्र था। उन्होंने कहा , "टूट-फूट के बावजूद , मैं इसे बचाकर रख पाया , क्योंकि मुझे यकीन है कि यह किसी दिन काम आएगा।"

यह दस्तावेज़ ही उनकी पहचान और अधिकार का प्रमाण बन गया, एक ऐसा प्रमाण जो शरणार्थी होने की पीड़ा और अधिकार के बीच की कड़ी को स्पष्ट करता है।

निष्कर्ष

ऐसा प्रतीत होता है कि ,पहचान महज़ जनसंख्या की बड़ी संख्या के कारण बहुसंख्यकवादी नहीं बन जाती ; बल्कि कुछ पहचानें तब बहुसंख्यकवादी और हिंसक प्रवृत्तियों वाली हो जाती हैं जब वे **'बहुमत'** और **'राष्ट्र की शुद्धता'** के बीच के अंतर को समाप्त करने का प्रयास करती हैं।

एक ओर, **मेज़बान राष्ट्र के निवासी** , जिन्हें बहुसंख्यकवादी कहा जा सकता है—संख्यात्मक आधार पर नहीं बल्कि उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक उपस्थिति की संगठित शक्ति के आधार पर—शरणार्थियों की **सामाजिक पदानुक्रम** में स्थिति को परिभाषित करते हैं।

दूसरी ओर, शरणार्थियों की **जातीय-सांस्कृतिक विशिष्टता**, एक **सांस्कृतिक और वैचारिक संरचना** को जन्म देती है , जो विविध और प्रतिस्पर्धी दृष्टिकोणों तथा आत्म-पहचान की प्रक्रियाओं के लिए एक स्थान उपलब्ध कराती है।

यह विश्लेषण इस ओर इशारा करता है कि यद्यपि राष्ट्र-राज्य , **गेलनर** (1983, पृष्ठ 55) के अनुसार, राष्ट्रवाद के एक विशिष्ट रूप को प्रोत्साहित करने के लिए प्रयत्नशील रहता है , फिर भी **जातीय-सांस्कृतिक पहचानें** समाज में गहराई से विद्यमान रहती हैं। ये पहचान शरणार्थियों की **सामूहिक स्मृति** और **स्वअनुभव** में निहित होती हैं और अक्सर राष्ट्र की एकरूपता की कल्पना के विरुद्ध **वैकल्पिक कथाओं** के रूप में प्रकट होती हैं।

उपर्युक्त विवरण यह दर्शाते हैं कि शरणार्थी केवल बेघर और पीड़ित व्यक्ति नहीं थे , बल्कि वे अपनी परिस्थितियों से जूझते हुए एक नई पहचान और जीविका का निर्माण करने वाले सामाजिक एजेंट थे। मौखिक इतिहास उन्हें यह मंच प्रदान करता है जहाँ वे अपने अनुभवों के माध्यम से पारंपरिक इतिहासलेखन को चुनौती दे सकते हैं और एक वैकल्पिक ऐतिहासिक विमर्श को जन्म दे सकते हैं।

प्रशंसा/आभार

यह शोध कार्य एक **शोध अनुदान** पर आधारित है , जिसके माध्यम से लेखक को **1947 विभाजन अभिलेखागार** के मौखिक इतिहास साक्षात्कारों तक पहुंच प्राप्त हुई। लेखक इस संग्रह के सभी सदस्यों को उनके सहयोग के लिए हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

हालाँकि, इस लेख में प्रस्तुत विचार और तर्क पूर्णतः लेखक के अपने हैं और यह किसी भी प्रकार से **1947 विभाजन अभिलेखागार** की दृष्टिकोण या विचारधारा का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं।

सन्दर्भ :-

I. पाकिस्तान, भारत और बांग्लादेश (पूर्व में पूर्वी पाकिस्तान) के बीच मानचित्रण सीमाओं को रैडक्लिफ रेखा कहा जाता है, जिसका नाम सीमा आयोग के संयुक्त आयुक्त सिरिल रैडक्लिफ के नाम पर रखा गया है।

2. इसके बाद विभाजन के रूप में संदर्भित सुमाल्या मुखोपाध्याय 2021

3. यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि पूरे पेपर में , लेखक 'शरणार्थी' और 'कथावाचक' शब्दों का एक दूसरे के स्थान पर उपयोग करता है।

4. द ग्रेट पार्टिशनः द मेकिंग ऑफ इंडिया एंड पाकिस्तान में यास्मीन खान की 'इंट्रोडक्शनः द प्लान' देखें, दूसरा संस्करण, 2017, पृष्ठ 1-10 vFile No. 4M-12/51, B. जून 1954.148-154, पश्चिम बंगाल राज्य अभिलेखागार , कोलकाता, पश्चिम बंगाल5

5. 16 जुलाई 1959अमृत बाजार पत्रिका , नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय (अब से , क्रमशः एबीपी और एनएमएमएल के रूप में संदर्भित)

6. 28 जून 2018 को लेखक द्वारा भद्रो बिस्वास का साक्षात्कार लिया गया; साक्षात्कार बांग्ला में आयोजित किए जाते हैं।लेखक ने उनका अनुवाद करने की स्वतंत्रता ली है।

7. जनवरी 1961 एबीपी, एनएमएमएल

8. 18 मार्च 1961 एबीपी, एनएमएमएल

9.प्रफुल्ल के. चक्रवर्ती की द मार्जिनल मेन (1990) जसोधरा बागची, सुभोरंजन दासगुप्ता और सुभश्री घोष की संपादित द ट्रॉमा और द ट्रायम्फ (वॉल्यूम। I-II) (2003 और 2009) मानस रे की 'ग्रोइंग अप रिफ्यूजी ' (2002) और देबाली मुकर्जी-लियोनार्ड की 'लिटरेचर, जेंडर एंड द ट्रॉमा ऑफ पार्टीशन' (2017) ने पूर्वी पाकिस्तान के शरणार्थियों की

अवधारणा को परिस्थितियों के दुर्भाग्यपूर्ण पीड़ितों या उन विजेताओं के रूप में प्रस्तुत किया है जिन्होंने उन संकटों पर विजय प्राप्त की जिनका उन्होंने सामना किया था।उदिती सेन ने अपनी पुस्तक सिटीजन रिफ्यूजी (2018) में इस द्विआधारी स्थिति की आलोचना की है।द रिफ्यूजी वुमन (2018) में पाउलोमी चक्रवर्ती पश्चिम बंगाल में 'शरणार्थी महिला' की आकृति पर चर्चा करने के लिए द्विआधारी पर सवाल उठाती हैं।

10. 15 मार्च 2017 को लेखक द्वारा मनोरंजन मंडल का साक्षात्कार लिया गया

INTERNATIONAL JOURNAL OF INTERPRETATION OBSERVATION & ANALYSIS